ये टूटते अंधेरे

श्रद्धेय गुरुवर डॉ० ताराचन्द्र जी शर्मा
के चरणों में
जिन्होंने अनगढ़ पत्थर को शिल्पगत
संस्कार दिया है…

प्रकाश की ओर....

स्वतन्त्रता के रजत जयन्ती वर्ष तक आते आते भारतीय जीवन जटिलतर होता गया है। आजादी के लिये संघर्ष करने वाली पीढ़ी के अन्तिम दावेदार या तो आत्महत्या कर चुके हैं या आत्मसमर्पण। नयी पीढ़ी देश की आत्मा को पहचानने से मुकरती दिखायी देती है। नये जीवन की चमक दमक से ही उसका वास्ता है और एक अंधी दौड़ जारी है। बिकी हुई बौद्धिकता इस आग में अपना जाड़ा छुड़ाने में व्यस्त है। व्यावहारिकता के नाम पर झूठ का पिछले अनेक जन्मों का कर्ज चुकाते हुए लोग परम पुरुषार्थ लाभ का अनुभव कर रहे हैं। इसलिये जान बूझकर या अनजाने प्रतिबद्ध कविता पार्श्व संगीत का कार्य कर रही है और भारतीय रंगमंच पर छल, स्वार्थ, लोलुपता, नग्नता और दमन के भरपूर दृश्य जिस विडम्बनापूर्ण स्थिति का बोध कराते हैं, प्रत्येक दर्शक अपना विवेक खोकर उस प्रदर्शन का सहभागी हो जाना चाहता है। इस प्रदर्शन को तटस्थ होकर देखने और विवेचन-विश्लेषण करने वालों की कमी है। पार्श्व में पड़ी संवादी कविता मात्र इशारों के साथ आरोह-अवरोह के स्वर देती रहती है। न जाने इस नाटक का अन्त कब होगा ?

मुझे अपनी कविता को पार्श्व संगीत के रूप में ढालना अच्छा नहीं लगता, फैशन के नाम पर भी नहीं। आग में झुलसते इंसान को ठंडी मरहम और शीतोपचार की आवश्यकता होती है। क्या आज के कवि का यह दायित्व नहीं है कि वह इस विष्कम्भक की अनवरत प्रक्रिया के रसाभासपूर्ण व्यापार को समय रहते समाप्त करने में जुट जाये ? इसीलिये मैं निराशा और संत्रास के नहीं, आशा और विश्वास के स्वर सजाता हूँ ताकि नया पट खुले और खोया विवेक लौट सके।

न जाने कब से मानव की ऊर्ध्वमुखी चेतना उस दिन की प्रतीक्षा करती रही है जबकि सम्पूर्ण मनुष्य जाति सदासर्वदा के लिये अन्याय और उत्पीड़न से मुक्त होकर एक अनिर्वचनीय आनन्द की मधुमती भूमिका पर प्रतिष्ठित होकर अबाध सुख का भोग करेगी। तपश्चरण के महान् अनुष्ठानों का सुदीर्घ

इतिहास उस क्षण को खींच लाने में आज तक समर्थ नहीं हुआ है। करोड़ों सूर्यों के अंतरिक्ष में भी अंधकार की सत्ता बनी हुई है अतः अंधकार पर विजय प्राप्त करने के लिये आज और भविष्य में भी दीप जलाने की अनिवार्यता बनी रहेगी। वह दिन कितना अद्वितीय और अद्भुत होगा जबकि हर आदमी अपनी ज्योति स्वयं जला सकेगा। जबतक यह नहीं होता तबतक प्रकाश के हर उपासक को अपना दीप चौराहे पर धर देना होगा। कविता और गीत की बात भी कुछ ऐसी ही है। मैंने कविता लिखकर हर बार सोने से पहले दीपक से सुनहले सुबह का इतिहास माँगा है। नहीं कह सकता कि 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' जैसी प्रार्थना करते समय कवि के मन में क्या रहा होगा ?

यह बात केवल संयोग ही नहीं है कि हमारे महान् ज्ञानी पूर्वपुरुषों को शोध करते करते अमृत मिल गया था। यह हमारी धरती की विशेषता है। पर क्या अमृत को पा लेना आसान है ? क्या उसके लिए सागर मन्थन करने का धीरज और पहाड़ उठाने जैसा पुरुषार्थ नहीं चाहिये ? हर घट में अमृत और विष दोनों ही विद्यमान हैं। हम यदि पा सकें तो अमृत की एक बूँद ही जीवन को सार्थक कर देगी। फ़तवे आसानी से दिये जा सकते हैं और फ़तवों के दिवा-स्वप्नीय मंच पर अहं का नग्न नर्तन भी किया या कराया जा सकता है, पर साधना के कठिन क्षणों में उगे सत्य-सूर्य के तेज को झेल लेना जीवट का कार्य है। सुदीर्घ परम्पराओं के स्वस्थ राजपथ को छोड़कर रपटीली गैल पर चलने वालों से कोई क्या कहे ? मेरी धरती मेरी है, घृणा के बीज बोने और फसल काटने को तत्पर होने की समस्त प्रक्रिया विघटन की प्रक्रिया मात्र है जिसे 'अमृतस्य पुत्राः वयम्' की घोषणा करने वाला भविष्य-द्रष्टा कभी भी स्वीकार नहीं करेगा। हर पल के यथार्थ को भोगते हुए भी तमिस्रा को नकारने और किरणों के साथ पलते हुए उस देश तक चलने को हम प्रतिबद्ध हैं।

आज की विभीषिका, कुण्ठा, संत्रास, जकड़न, थकान, विग्रह और विनाश आधुनिकता के विकृति के परिणाम है।

भौतिक विज्ञान का विकास हमें चंद्रलोक तक पहुँचा सकता है, उससे पाताल की गहराइयों तक की थाह ली जा सकती है परन्तु उसके पास मन को मन से जोड़ने के अखिल ऐकात्म्य का साधन न तो है और न कभी होगा। उसके लिये तो केवल उस विज्ञान की आवश्यकता है जो मशीनों से बढ़कर मानव को

आदर दे सके। आधुनिकता बाहरी न होकर आंतरिक हो सके तो मानवजाति निश्चय ही एक उज्ज्वल भविष्य की ओर बढ़ सकेगी। वर्तमान के इस बढ़ते अंधेरे को तोड़ने का उपक्रम उतना सहज नहीं है। 'निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई।' इसके लिए सम्पूर्ण निष्ठा से प्रयत्न करना ही होगा। बेशक यह एक कठिन मार्ग है, पर उजालों के सहज विश्वासी को अमृतत्व की तलाश में आत्मदान के लिये भी तो सिद्ध होना पड़ेगा।

मेरी अधिकांश कविताएँ मात्र 'स्वान्तः सुखाय' नहीं रची गई हैं। इनका सृजन स्वतः किन्तु एक निश्चित विधान के अनुसार हुआ है। संस्कार की बात है कि मुझे अंधेरे से चिढ़ है और मेरे दैनिक संघर्षों ने मुझे प्रकाश का मार्ग बताया है। कुछ रचनाएँ अवश्य नितांत व्यक्तिगत कही जा सकती हैं पर यदि उनमें साधारणीकरण की क्षमता हुई तो वह भी सबकी सम्पत्ति बन सकेंगी। इसी विश्वास के साथ यह कविता संग्रह पाठकों के हाथों में अर्पित है।

श्रद्धेय गुरुवर डॉ० ताराचन्द्र जी शर्मा (मथुरा) डॉ० शरण बिहारी गोस्वामी (वृन्दावन) के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनकी सतत प्रेरणा से मैं यहाँ तक आ सका हूँ। सहपाठी मित्र डॉ० बाबूलाल गोस्वामी (दिल्ली) श्री भूपेन्द्र कुमार स्नेही (दिल्ली), श्री त्रिलोकी नाथ ब्रजवाल (मथुरा), श्री कन्हैयालाल मलिक (नेशनल पब्लिशिंग हाउस), एवं श्री सांवल दास (अजय प्रिंटर्स) का हृदय से आभारी हूँ जिनका उत्साह और सक्रिय सहयोग इस संग्रह में अनुस्यूत है।

देवेन्द्र आर्य

हस्तिनापुर कॉलेज (सांध्य)
मोतीबाग, नई दिल्ली-२१
स्वतन्त्रता रजत जयन्ती वर्ष
१५ अगस्त, १९७२

क्रम

ये टूटते अंधेरे

मेरे ऊर्जस्वित बोध को
अंधे शून्य में लटका
नपुंसक अथवा
अस्तित्व हीन नहीं किया जा सकता
मैंने—
मौत की सर्वभक्षी घाटी में
प्राण-दीपों के उजाले में
शहादत का खेल खेला है,
निःशब्द
सलीब को कंधे पर लादे
अंधी गलियों के
अजनबी मोड़ों को पार किया है।
गूँगे, बहरे, लुंज
खोखले शब्दों से—
अनावृत
अनासक्त
कुहासे की कब्र को नकारते
भोर के उजाले तक
अकेला ही चलूँगा मैं
अनाचार, अत्याचार, उत्पीड़न,
पंथ की तमिस्रा को
गहराती समस्या के विष को
आज भी कल भी
अपने लिए ,सबके लिए
विषपायी शिव सा
अकेला ही पियूँगा मैं।

वही सूरज परवान चढ़ते हैं

घोर कुहासे में आवृत हो जाने पर भी
जो अनासक्त रहता है
अंधेरे की सलाखें
वहाँ छोटी पड़ जाती हैं, या
धीरे-धीरे गलती हुई
स्वय को ही खा जाती हैं;
हर आरोपित अहं के टूटने पर
ऐसा ही होता है
संत्रास—
कचोटता तो है, पर
हर जुझारू मन से हार जाता है।
प्रताडित,
जख्मों को जो
कल के लिए सी लेता है
चुपचाप—
सारे ज़हर को पी
मात्र हँस देता है
उसकी निर्दोष उपेक्षा
कहीं अधिक मर्मान्तक होती है
खून मुँह लगे भेडिये में
कसमसाहट बुनती है।
मौत के साये में पलकर ही
अमर गीत गाए जाते हैं
वही सूरज परवान चढ़ते हैं
जो काली निशा में
किरणों को समेट पलते हैं,
रोज
सुबह के लिए
अंधेरा लपेट चलते हैं।

अंधेरे की साज़िश

एक अंधी, कांटेदार खोह
मेरे चारों ओर उग आई है,
न जाने कब में
विष जैसा तम फैलता रहा है,
सृजन शील चैतन्य को
कटघरे में बन्दकर
नियति के गहनतम वनों में
फेंक दिया है,
बिका हुआ राजपथ
पाताल के मुहाने पर
साज़िश करने रोज आता है।
घुमावदार खोह की प्राचीरों पर
काई की अनेक सतहें उभर आई हैं
सम्भव नहीं है
चिकनी, ध्वस्त सीढ़ियों से
ऊपर चढ़ आना, और
गहराई का स्थिर जल
पीने योग्य नहीं रह गया है।
किनारे बैठकर इतिहास ने
सदियों से
उन्हीं पृष्ठों को फिर फिर लिखा है
जिन्हें मैंने हर बार नकारा है,

मेरी विद्रोही धमनियों में
हर बार जड़ रक्त
लेबल बदल-बदल कर
संचारित किया गया है।
आज मैं
उस मुहाने पर आ गया हूँ
जहाँ के रास्ते
प्रकाश के देश तक जाते हैं,
मैंने—कीलों को
चिकनी सतह पर ठोक दिया है,
और लगता है कि—
जैसे-जैसे मैं ऊपर उठ रहा हूँ
प्राचीरों के दायरे और पर्तें
घुलती जा रही हैं,
अंधेरे की साज़िश
टूटती जा रही है।

आओ, पास बैठें

आओ, पास बैठें,
दो बातें कर लें
युग का क्या है ?
न जाने कब
प्राचीरों से बंधा-बंधा
मुखौटों के आधार पर
खेमों में बंट जायेगा और
सहज प्रवृत्तियों के धरातल पर
नागफनी बो आएगा ।
हम तुम
जब तक एक शीशमहल बनाएँ
सपनों के द्वार-द्वार वंदनवार सजाएं
आँजुरी के फूलों में
पल को सहजते
मोती लुटाएँ,
कुहासे में कोई
एक कफन बुन
लावारिस साँसों को लपेट जाएगा
और—
सौन्दर्य-बोध के नाम पर
फूलों के आस पास
धुँधलका सजा आएगा ।

आओ, पास बैठें,
दो बातें कर लें
जीवन का क्या है ?
न जाने कब
अंजुली जल सा
बूँद-बूँद बीत जाएगा,
सागर तट पर
बन्द मुट्ठी के रेत सा
कण-कण रीत जाएगा
और अपना कहते कहते
सब कुछ कहीं खो जाएगा।
आओ, हम—
इस पंथ की तमिस्रा को नकारें
हर पल के यथार्थ को भोगते
किरणों के साथ पलें
हर बार
ऐसे ही
उस देश तक चलें।

तुम बता दो

आस्था की चरमराती नींव पर
गीत का निर्माण कब तक मैं करूँगा
तुम बता दो,
हर बार मेरे द्वार से आगत गया है।
नयन की अनजान कोरों में छिपे
रूप के, सौन्दर्य के बेसुध सृजन को
और कितना भाव का शृंगार दूँगा
तुम बता दो
हर बार उजली धूप से मेरे अहं को
बदनाम तम की डोर से बाँधा गया है।
सांझ के ढलते, थके
बोझिल स्वरों में
शबनमी उन्माद को बन्दी किया है
और गति को—
प्राण का अमृत पिलाकर
उम्र वृद्धत्व को बचपन दिया है,।
पर—दूर से ही
लौटती आवाज को
उस कारवाँ को
और कितनी आस
चिर संचार दूँगा
तुम बता दो,
हर बार
सुबह की ओस से अस्थिर पगों से
गुमनाम—
दुर्गम लक्ष्य को नापा गया है।

सुबह का इतिहास

यह नहीं है कि
अंधेरी गलियों के अनजान मोड़ों को
मैंने—
अस्तित्व की बैसाखी लगाकर नहीं नापा है
पर—हर बार
जीवन से पहले, मैंने
मौत के पहरेदार से समझौता किया है।
टूटते, आधारहीन
आस्था के कंकाल को
कितना सहेजा, संवारा है
आज—शायद नहीं जान पाओगे,
मौन, धुंधियाते
बरगद के पार्श्व में ढलती,
दम तोडती,
सिसकती साँझ को
हर सुबह
कितना उजला, महकता
परिधान पहनाया है
आज—शायद पहचान नहीं पाओगे
पर कल, जब—
अनब्याही, मासूम हसरत
गुमनाम कंधों पर यूँ ही बिखर जाएगी

बोझिल साँस
खण्डहर के सूने गर्त में
चुपचाप सो जाएगी
तब शायद—
ओस के दर्पण से
झाँकती धूप या
हंसते सुमन से कुछ पूछो
यह नहीं है कि
उस आवाज को
बेसहारा भटकते से दर्द को
अनजाने द्वार तक नहीं पहुँचाया है
पर—हर बार
सोने से पहले
दीपक से
सुनहले सुबह का इतिहास माँगा है।

एक अजदाह, मेज और मैं

जब बन्दूकें
ड्राइंग रूम की खूँटियों पर
लटक जाती हैं
और—तोप के मुहानों पर
घोंसले उग आते हैं
क्षितिज के सुदूर कोने से
एक धुँआ सा उठता नजर आता है
लगता है—जैसे कोई अजदाह
धीरे-धीरे सर उठाता
नुकीले, विषाक्त दांतों से डसने को आतुर
दो जीभों से
मेरी मेज पर आ बैठा है
कुछ प्रतिबद्ध सलाहकारों के साथ
अपनी मान्यताओं में आसक्त, वचनबद्ध ।
निर्लेप सा मैं
किन्हीं नए प्रतिमानों के लिए
आदर्शों (?) के लिए चुप हूं
दो जीभों से कही हुई बात को
सत्य मानकर चर्चा निमग्न हूँ—
खून—जो सड़कों पर लावारिस बह गया
आंसू—जो धूल में मिल गया
आज उनकी चर्चा करना भी व्यर्थ है
बीते हुए पलों को कौन चुनेगा
कौन पलकों में संजोएगा.........?
वर्षों से जानता हूँ मैं उसे
जब जब वह

श्वेत कपोतों की ओर हाथ बढ़ाता है
कुछ तीखी नोकें
झोली में छिपा लाता है।
न जाने
कैसी लाचारी है मेरी !
मैं उन नोकों की चुभन नकारकर
साँस और आँसुओं से खरीदी
वस्तु के प्रति अनासक्त सा
फिर फिर उसी मेज पर आ बैठता हूँ
जहाँ मेरे सामने होती हैं—
जीभें, दो जीभें
प्रतिबद्ध सलाहकार
नियोजित मान्यताएँ...... ।
आज—वर्षों बाद
फिर वही मेज,
फिर वही सब कुछ
भोगा यथार्थ
पर मैं ··वह नहीं हूँ
सुनो,
वर्षों की कालिख धोने के बाद
मैं कुछ निखरा हूँ
अधिक सम्भला हूँ......... ?

सहेजा हर क्षण

अन्तर को
कुछ इतने गहरे छू दिया है तुमने
कि वर्षों बाद
दर्द फिर गीला हो गया है।
सुरमई तरंगों पर झूमता शिकारा
डल
शान्त ज्योत्स्ना—
उन क्षणों को
हम कभी जी नहीं सके,
घाटी का नीरव एकान्त
फूलों की अनजानी प्यास
झरनों का कलकल गान
चाहकर भी
उन्हें हम सहेज नहीं सके
पर—
बोझिल मन को
कैसा माप लिया है तुमने
कि आज—
साँस की मजबूरी में
सहेजा हर क्षण
उभर आया है।

गरीबी हटाओ

चिलचिलाती धूप में
रेंगती एक लाश
घास की फुनगियाँ चबाते
प्यासी आँखों से घूरते, गुर्राते
कुत्ते
गीदड़
कुछ चील
और हड़बड़ाती
एक काली बिल्ली;
सूखी दो रोटियों पर
झगड़ते, सर फोड़ते
ठठरीनुमाँ दस बच्चे
दूर से आती
चिल्लाती
बदहवास आवाजें
और—
आधे कफ़न में लिपटा
एक नारा—
'गरीबी हटाओ.........!

स्मृति

शान्त झील में
एक छोटे से पत्थर ने
कैसी हलचल मचा दी है !
एक बिन्दु से उठती
गोलाकार तरंगें
तट तक आते-आते
मौन हो गई हैं,
और—
धीरे-धीरे धंसता पत्थर
न जाने
कितनी गहराइयों में उतर गया है।

एक अंधे शहर में

सारे दर्द को चुपचाप समेट कर
कितना कठिन लगता है
भीड़ भरे बाजार से गुजरना—
जहाँ का हर फुटपाथ
मात्र उगलता है विज्ञापन
अनभोगे यथार्थ का
दर्द और पीड़ा का.........।
न जाने कैसे
अंधे शहर में फँस गया हूं !
सुदूर, अज्ञात कोनों में
अनस्तित्व से अभिशप्त रोशनी
त्रस्त सी मुँह लटकाए बैठी है,
मिनी टार्च से
गलियों के अंधे मोड़ों को नापना
कितना बेमानी सा लगता है, जबकि—
राजपथ से टंके
ऊँचे ऊँचे लेम्पपोस्ट
अंधेरे के व्यापार में व्यस्त हैं,
लिपे-पुते चेहरों से झाँकता है
बेपर्द विनिमय
और निर्वस्त्र अहसास...।

ओ मेरे हमसफर,
लम्बी यात्रा से पहले मुझे
इस अंधे शहर के
दमघोट रास्तों में
दो कदम और चल लेने दो,
नागफनी के विष बुझे फलक पर
मेरे प्रबुद्ध सृजन को
दो पल और जी लेने दो;
यह सारी चुभन,
दर्द और अंधेरा मेरा है—
मुझे सहेज लेने दो
कल के लिए आज
यह सब पी लेने दो··· ··।

शक्तिग्राम का समरजयी

कल, मैंने
शम और कामना के आंगन में
खड़े होकर
आकाश की समस्त गहराई को
अछूते विस्तार को नापा था,
कई बार सिर झुकाकर
सिर उठाकर
कुछ सफेद कबूतर उडाए थे;
'जरा देखना
अब तक तो वे
विश्व की हर डाली पर गा चुके होंगे,
जो कुछ मुझे कहना था
कह चुके होंगे;
लौटें
तो मुझ तक भेज देना
मैं बाहर—
उस बरगद की नीचे या
तालाब की एकान्त शिला पर
प्रतीक्षा करता मिल जाऊँगा·········।
'वे नहीं लौटे'
हँ···हँ···कोई बात नहीं,
मैं जानता था—वे नहीं लौटेंगे

लो लाल डोरी बाँधकर
एक बार फिर—इन कपोतों को उड़ा दो,
बस एक बार और—
फिर क्या कहूँगा, कैसे कहूँगा !
कब तक कहूंगा···!
करदे कोई
दर्द की मासूमियत को
हैवान चौराहों पर नीलाम
हर तार की अस्मत को नोंच
बन्धन की मजबूरी को बेनक़ाब,
और—सड़ी, गली विद्रोही लाश को
बदनाम कन्धों पर उठवा
कहीं गहरी दफना दे, आखिर
लरजते हाथों की नपुंसक कायरता
निहित स्वार्थों के साये में
और कब तक मुँह छिपाएगी ?
हर द्वार, हर गली, हर मोड पर
निस्तेज दीप की लौ पर
प्रकाश की बहुरंगी मंजिल उठाएगी···?
उठो,
कब तक यूँही चुपचाप बैठे रहोगे
असम्पृक्त से
सब कुछ सहते रहोगे···?
तुम्हारे वे श्वेत कपोत
किसी अंधेरी गुफा में दम तोड़ चुके हैं;

अब वे—किसी अजगर से
कुछ कहेंगे नहीं;
नुकीली ऊँची चट्टानों पर
अंधी गहरी घाटियों में
कुछ गुनगुनाएँगे नहीं……।
देखो—
पथ से
प्रकाश की अन्तिम किरण भी घुल रही है,
चतुर्दिक कुहरे में घुटने से पूर्व
खोटी पूँजी को छितराकर
आगे चल दें—
मेरे
शक्तिग्राम का समरजयी
प्रतीक्षा रत है।

खेल

वाद को वादों में,
सिद्धान्त को सिद्धान्तों में
फँसाकर
जो खेल खेला है
उसे—
बदनाम चौराहों पर
इस तरह नीलाम मत होने दो,
इस अर्द्धसुप्त जनमत को
सुन्दर शब्दों की
खोखली व्याख्या
अभी तक ज्ञात नहीं है।

सुनहला कल

तोप के मुहाने पर टंका
मेरा तन
आज अथवा कल
चिथडे चिथडे हो जाएगा
यह मुझे मालूम है
पर मेरी सम्पूर्ण जीवन्त शक्ति
हर युग में
हर जन्म में
संघर्षमय क्रान्ति का उद्घोष
गली-गली द्वार-द्वार, पहुँचाएगी।
दबावों के
स्वार्थी, खोखले शब्दों के दायरे
समझौतों के दमघोट अंधेरे
फीकी हँसी मात्र हँसेंगे,
मैं
भयाक्रान्त चेहरों की जकड़ में
त्रस्त बेबसी
और तानाशाही शिकंजी मौत को छोड़
उड़ आया हूँ
नीड के बिखरे तिनकों से
अपने लिए, सबके लिए
एक सुन्दर महल उठाऊँगा
गंगा, पद्मा, मेघना की सतरंगी धारा से सींच
खेत खेत में
सुनहले कल की पौध लगाऊँगा।

रजत जयन्ती वर्ष

हर गली, हर मोड़ पर
आत्मजयी सुरंगे
रेत और बर्फ में फैला
उन्नत विजयन्त
क्षितिज के अदेखे गाँवों पर
नैट का पहरा
सागर के द्वार-द्वार
मस्ताना विक्रान्त
कावेरी, गंगा और पद्मा का
समवेत गान
रजत जयन्ती वर्ष को
कुछ धूमधाम से मनाएँ
वैरी के रक्त का टीका लगाएँ।
दिग्भ्रमित राष्ट्रों की खोखली आवाजें
सौंप दें—बेशर्म अंधेरों को
मसौदों का जहर
गहरे दफना दें कहीं।
खैराती माल की गर्वीली भिखारिन
आज भी—
पागल शब्दों से खेलती है;
पश्चिम के आकाश में
काली छाया—
फिर धीरे-धीरे आकार ले रही है

सर्पिणी सी
विष दन्त पैना रही है ।
साथी !
यह छाया
उठती ख़िजां सा दर्द
अब सहन नहीं होता
मेरी शिराओं में
कहीं कोई मचल रहा है
लास्य के स्वर में
ताण्डव थिरक रहा है ।

*

सुबह

बन्द कमरों में अंधेरी जिन्दगी
और कब तक ?
उठो
किरण के द्वार पर
उन्मुक्त
सुबह का रथ सजा है।
सूने गलियारों की खामोश उदासी
यूँ ही, चारों ओर भटककर
फिर सो गई है
काली डाली से चिपटी वह मैना
सब ओर—निरुद्देश्य
ऊँची घाटियों के
आधारहीन अंधेरे और
मौत की कसी बाँहों में
बिना फड़फड़ाए
बिखरती सी कहीं खो गई है,
आओ,
चुपचाप दो कदम और चलें,
दो पल,
हाँ, दो पल बाद ही सुबह हो जाएगी।

नक़ाब

तुम्हारे चेहरे पर जो नक़ाब है
रहने दो,
उसे मैं उतारूँगा नहीं
कल—
जब युगबोध पैरों चलने लगेगा
तब स्वयं ही
तम का गला दबाकर
प्रकाश खींच लाएगा।

रजत जयन्ती वर्ष

घोंसलों में उजाला
सहमा सा बैठा है
अंधेरे की डालियों पर
बाज उतर आए हैं;
अब कोई वाल्मीकि
मैथुनरत
क्रौंच वध पर मर्सिया नहीं गाएगा,
खून से गीले
क्षत पंखों को
सात समुन्दर पार
अनाम बस्तियों में दफना
सरयू-तट पर
निर्विकार बैठ जाएगा।
लगता है—
राम की भुजाओं में
समझौता घुस बैठा है
लक्ष्मण-रेखा
अधखिची या बीच से टूट गई है—
सीता की लाज पर
लंका नहीं जलेगी अब।
दशमुख उगलता है आग
प्रबुद्ध चेतना में
कुम्भकर्ण उभर आया है

अशोक वन में
पलते हैं पिशाच
और हनूमान की पूँछ
छोटी पड़ गई है……।
विद्रोही हो गए हैं
मेरे सभी अर्थ और सन्दर्भ,
लगता है—
शून्य चौराहों पर खड़ा
विरासती शब्दों की भीड में
कुचल गया हूँ
कहने को
वस्त्र तो पहने हूँ
पर निर्वस्त्र सा हो गया हूँ।

अंधेरा बेचते हैं

कितने लाचार और
निरुपाय हैं हम
तथ्य हीन तर्कों के दायरों में
खोखले,
आरोपित अंह से
गर्वित—
नकारते हैं
अनुभूत सत्य के उजाले को
खिड़की की दरारों से आते हुए।
अमर्यादित बाजार से
आखिरी बोली से पहले
मिल जुल कर
नपुंसक शब्दों और अर्थों को
ऊंचे दामों पर खरीदते हैं—
प्रकाश का लेबल लगाकर
अंधेरा बेचते हैं।

प्रवंचना

आत्मश्लाघा से दंशित
हम
नकार देते हैं
हुजूम की नंगी आवाजों को,
शब्द की नोकों को
ठोक पीटकर
अर्थ के अनगढ़ सांचे में
बैठाने की जोड़-तोड़ में
सन्दर्भ से भटक जाते हैं
लंगड़ा बैसाखी पर टिके
मीलों निकल जाते हैं।

वासन्ती बयार

वासन्ती बयार की बातों में घात ।
दर्द के सिरहाने बीत गई रात ।।
सतरगी चूनर में
अलसाई भोर
डाल डाल बिखर गया
पक्षी का शोर ।
सोनजुही शरमाई सुन पिय की बात ।
दर्द के सिरहाने बीत गई रात ।।
कलियों ने खोल दिए
घूंघट के बंध ।
द्वार-द्वार विरहिन सी
बिथके रस गंध ।
आँज गया आँखों में कोई बरसात ।
दर्द के सिरहाने बीत गई रात ।।
गंधियाते उपवन
पर सूना परिवेश,
कैसे कोई घूमे
सुधियों के देश ।
टूटा मन, टूटे ज्यों पीतवर्ण पात ।
दर्द के सिरहाने बीत गई रात ।।

अभी दिशा बाकी है

बहुत उगाए नील गगन में सूरज चाँद सितारे,
लेकिन प्राणों के आंगन में अभी निशा बाकी है।
कैसे कह दूँ नहीं छला
भोला विश्वास हमारा,
दिवा-स्वप्न सा छूट गया
पागल अहसास तुम्हारा।
हरी चुनरिया में लिपटी हैं
वासन्ती मनुहारें
स्पन्दन के आतुर क्षण में
कब तक पथ निहारें ?
बहुत समेटे आंचल में सागर के दूर किनारे।
लेकिन अधरों में अतृप्त सी अभी तृषा बाकी है॥
पल दो पल की मधुर वेदना से
क्या जीवन बांधू ?
महाशून्य के अंधियारे में
भोर कहीं से ला दूँ।
मैं जीवन्त, मुझे चलना है
अनदेखी राहों से,
अवरोधों सी फन फैलाए
झंझा की बाहों से।
सृजन बोध पर प्रतिवादों ने कितने दंश बिछाए।
लेकिन तंत्री में सरगम सी अभी उषा बाकी है॥

लहरों पर गीत सृजन के
मैं लाऊँगा विध्वंसक यन्त्रों
से मीत मिलन के ।
सूरज सा परचम लहरा दूँ
कुटिया के आंगन में,
सुख वसन्त सा फैला दूँ
हर नगर, गली, जन मन में ।
बादल की पलकों ने अमृत कुम्भ सहज ढलकाए ।
लेकिन सोने से वैभव की अभी दिशा बाकी है ।।

ग्रीष्म : एक गीत

ग्रावाँ सा शहर हुग्रा, तपता हर गाँव ।
सहमती कपोती सी बरगद की छाँव ।।
धूप चढ़े कन्धों पर
उतरे दिनमान,
लावा सा ग्राँज गया
रजनी-पवमान ।
लौट गई ग्राँखों से नींद थके पाँव ।
सहमती कपोती सी बरगद की छाँव ।।
हरे-भरे उपवन में
सोया वीरान,
गलियाँ हैं मौन
मुखर बस्ती शमशान ।
बनजारिन मौत फिरे बिथके हर ठाँव ।
सहमती कपोती सी बरगद की छाँव ।।
धूल मिले विरहिन सी
धरती के गीत,
जाने क्यों रूठ गए
जन्मों के मीत ?
लगता है खेले हैं सौतों ने दाँव ।
सहमती कपोती सी बरगद की छाँव ।।

आओ, पास बैठें

आओ पास बैठें
दो बातें करलें,
समय का क्या है ?
न जाने कब
सतरंगी डैनों में उड़ जाएगा
और पीछे
चीखती काली सड़क सा दर्द,
बेपनाह अस्तित्व,
घिघियाती
ललकती
बदरंग तस्वीर
हर कोने या मोड़ पर
फैंकी कुचली सी
धुंधली स्मृति छोड़ जाएगा।
आओ, पास बैठें
सृजन के उन क्षणों में
कुछ दर्द गुनगुना लें
बिछलती चाँदनी के यूँ ही सो जाने से पहले
उभरती साँस
टूटते विश्वास
बेसुध मौन को तो जगा लें
मर्म का क्या है ?
न जाने कब
अर्थ को शब्दों में बाँध
शब्द को अर्थों में बाँध
इतिहास के नाम पर

सीखचों में बन्द
गुमनाम जिन्दगी को
बदनाम चौराहों पर
यूँही भटकने के लिए
आवारा छोड़ जाएगा।

आओ पास बैठें
दो बातें करलें
अन्धे युग की अनिवार्य यातना को
यंत्रणा, कुहासे को
पीढ़ी के दर्द को
सिरहाने धर कर सो जाएँ,
बोध का क्या है ?
न जाने कब
विरासत में मिले पाप को
जिजीविषा की निर्मूल्य चेतना
जूझते संघर्षमय अस्तित्व को
मौत की शून्य घाटियों में
दफना आएगा
और भीड़ में आकर
निरर्थक हँसता हुआ कहेगा—
देखो, मैंने—
फूहड़
बेमानी, बोझ सी जिन्दगी के
युग-भोक्ता को
कितना प्यार दिया है
इसके हर मीठे सपने को
शिशु अपराध समझकर
माफ किया है।

रोशनी के दावेदार

जब हर दरवाजे से
अँधेरा बाँध दिया जाता है
और खिड़की की दराजों पर
नापाम टाँक दिए जाते हैं
तब—रोशनी के दावेदार
खून पिलाकर
प्रकाश को
कयामत तक सींचते हैं।

खून हो गया है

सतरंगी बादलों से
झाँकती, बिखरती सी धूप,
वासन्ती बयार की मदहोश पलकों पर
सजता, संवरता सा रूप,
कभी—
सौन्दर्य-बोध की तुष्टि का साधन था,
पर आज वह—
दफ्तर
फाइल
गली सड़क की भीड़ में
बसों के भागते हुए पहियों से
कुचलकर
बदरंग सा हो गया है
यथार्थ क्षण के
योजनाबद्ध छुरे से
मासूम कल्पना का
सरे आम खून हो गया है।

संघर्ष

शायद कुछ आसान है
छुई मुई को बाँध रखना,
पर—
कितना कठिन है
शमीवृक्ष की
(टूट जाने पर भी)
अदम्य जिजीविषा को
अनपेक्षित शिकंजों से
मौत तक ले जाना।

मात्र पंगु हैं

आओ, हम
अपने बचाव के लिए
एक दूसरे को दोषी ठहराएँ
कीचड़ उछालें;
प्रजातांत्रिक राजनीति के युग में
नए अर्थ-बोध का
पुराने शब्दों की नींव पर सृजन कर;
तन्द्रिल जनमत में
मौन अंधेरे में
आखिर हम ही तो प्रकाश-स्तम्भ हैं,
वैसे—
भोर के उजाले में
कितने बेबस,
निरीह,
टूटे हुए
मात्र पंगु हैं।

टूटा दर्पण : नई धूप

टूटा
खरोंचों भरा
दर्पण
फैंक दो न इसे
बड़ा भद्दा लगता है
तुम्हारी ड्रेसिंग टेबुल पर।
पसरती
नई धूप को
समेट लो
कुछ चमक तो रहेगी,
टूटे, निष्प्रभ दर्पण से
बेहतर सजेगी।

बावरी बयार

तन मन में चुहल भरे बावरी बयार।
लौट लौट आए पिय सुधियों के द्वार॥
सरसों की पलकों में
नींद भरी लाज
चितवन में आँज गया
यौवन क्या आज!
दर्पण से शरमाए पहला श्रृंगार।
लौट लौट आए पिय सुधियों के द्वार॥
जागे तो प्यास जगे
आँख लगे सपन,
सावन सी रिमझिम में
और बढे तपन।
भूला सा गीत बजे दर्द के सितार।
लौट लौट आए पिय सुधियों के द्वार॥
घूँघट की कारा में
बन्दी मन-चोर
बिंदिया में, कंगन में,
पायल में शोर।
सिन्दूरी आशा के जाग रे कहार।
लौट लौट आए पिय सुधियों के द्वार॥

लौट गए मीत

आँजो मत आँखों में वासंती प्रीत ।
अनब्याही देहरी से लौट गए मीत ।।
सपनों के शीश महल
पूनम सी रात,
शबनम सी पलकों में
अनजानी बात ।
बाँधो मत आंचल में किरणों से गीत ।
अनब्याही देहरी से लौट गए मीत ।।
पनघट ही हार गया
फिर कैसी आस ?
आँसू में डूब गई
बिंदिया की प्यास ।
खोलो मत कलियों सी प्राणों में रीत ।
अनब्याही देहरी से लौट गए मीत ।।
चौंके हर आहट पर
व्याकुल उन्मेष,
साजन की नगरी
क्या जाने किस देश ?
घोलो मत साँसों में कोई संगीत ।
अनब्याही देहरी से लौट गए मीत ।।

गीत में कैसे दर्द भरें

रेगिस्तानी प्यास कण्ठ में कब तक लिए जियें ।
सब स्वर हैं खामोश गीत में कैसे दर्द भरें ।।
हर द्वारे पर आ बैठी है
बूढ़ी मजबूरी,
जल को तरसें बैठ किनारे
यह कैसी दूरी ?
मृगतृष्णा बन दिलासा
सपनों में छलना,
यायावर दिग्भ्रमित, अदेखी
मंजिल, क्या चलना ?
उत्पीड़न की अपनी सीमा कब तक घुटन सहें ।
सब स्वर हैं खामोश गीत में कैसे दर्द भरें ।।
अपनों से अपनों का नाता
धागे सा टूटा,
रहे भटकते अंधियारे में
भोर कहीं छूटा,
थके पांव, आशा ने बाँधे,
मीलों के सपने
कोलाहल है बहुत, सुनेगा
कौन दर्द अपने ?
लावारिस इच्छा नित मरती, कब तक कफन बुनें ।
सब स्वर हैं खामोश गीत में कैसे दर्द भरें ।।

महाशून्य में टाँक दिए हैं
प्रश्नचिह्न इतने,
नियति मोड पर और मिलेंगे
मृत्युबोध कितने ?
खोटी किरण बाँध, सूरज का
हो कैसे अहसास,
थोड़ा सा पाथेय, कर क्या
सदियों का विश्वास !
आदि-अन्त के रुदन-हास्य का कब तक शमन करें ।
सब स्वर हैं खामोश गीत में कैसे दर्द भर ।।

सूर्य : लहरें : रागिनी

तुम
प्राची में उगते सूर्य को
तोप के खोखले धुंए से ढकना चाहते हो
ढको,
सागर की उद्वेलित लहरों को
टैंकों की दीवार से
रोकना चाहते हो
रोको,
जन-मानस में उभरती
गूँजती आवाज को
गदराए कण्ठों की उन्मुक्त रागिनी को
तलवार की निस्तेज नोंक से
दबाना चाहते हो—
दबाओ,
पर
मेरा सूर्य,
मेरी लहरें
मेरी रागिनी
खप्पर के खून में रंगी हैं
अमरत्व के साये में पली हैं।

एक और गांधी

पूरब में
अम्बर की छाती पर
धुंधियाता बादल करवटें ले रहा है
क्रान्ति के आंगन में
फ़िर कोई नापाम गिरा है।
सिसकती धू-धू ज्वाला, और
निर्दोष लाल खून से
भूखी, नंगी झोंपड़ियों ने
चिर सुहागिन नारी सा
माँग में सिन्दूर भरा है।
निहत्थी बेजुबान लाशों में
वह कौन—
धीरे-धीरे मुक्ति गीत गा रहा है
स्वप्न सा,
पद्म-परिमल सा
क्षितिज की गहराइयों में
समाता जा रहा है;
आओ, हम
दो-दो हाथ बढ़ाकर
उसका अभिनन्दन करें,
सोनार देश में
एक और गांधी ने जन्म लिया है।

नया सवेरा

......और दस ग्यारह दिन बाद
एक रात
वह नाटक अचानक ही समाप्त हो गया
जिसकी आड़ में
क्रूर दानवी हिंसा ने
मासूम करुणा का गला दबाने की योजना बनाई थी।
अभी भोली माँ के आंचल में
नवजात उठा भी न था कि
पार्श्व में
सैबर जैट की बेशर्म गडगड़ाहट
टैंकों, तोपों, मशीनगनों का
चीखता, चिल्लाता नपुंसक शोर
शील और मर्यादा की प्रतिमाओं पर
कालिख पोतता
करीब और करीब आने लगा;
मां ने छटपटाकर करवट बदली
नवजात ने आँखें टिमटिमाईं
कि सैनिक के बेरहम बूट से
हवा में उछालकर
अबोध को
काली सड़क पर बिछा दिया गया,
माँ के सिसकते ममत्व पर
नापाम के काले धुएँ का
पहरा बिठा दिया गया।

मैंने—मौत के साए में छिपकर
उस तड़प को
बेपनाह ललक को
बहुत करीब से देखा है
महसूस किया है,
शायद इतिहास के गीले पन्नों में
वह मनहूस, वीरान रात
कभी समा नहीं पाएगी
सौ बार कहने पर भी
यह दर्द, यह घुटन
यह बात
अनकही रह जाएगी।

वर्षों से, मैं
उस खिड़की को खुला ही रखता हूँ
ताकि, सुबह की नन्हीं किरण
मुझपर, मेरी पाण्डुलिपियों पर
अनकहे ही बिखर जाए
प्रबुद्ध चेतना के मृत्युंजयी भाव को
चुपके से पलकों में सँजो जाए
गीली हवा
किसी अछूते गीत को
लहरों के साथ गुनगुनाकर
मेरे तन-मन का स्पर्श कर जाए
पर आज—
यह सब कुछ नहीं हुआ,
एक धुंधियाता अजदाह
सीखचे तोड़कर
मेरे कमरे में आ घुसा है
मेरे भाव,
मेरी चेतना,
मेरी पाण्डुलिपियों को

राख बनाकर
लावारिस सा फेंक गया है ।
एक बार फिर—
मेरा बुद्धिजीवी तन, मन
घिनौनी गन्ध और मनहूस कटुता से
छटपटा उठा है,
पन्द्रह करोड़ हाथ
सिमटती मौत की अंधेरी बाहों से
जीवन का संघर्ष
खींच लाने को मचल उठे हैं ।
यह काली ख़िज़ां
चाहे एक-एक पत्ते को निगल जाए
हर फूल की पंखुरी को नोंच ले
पर मुझे मालूम है कि कल—
शस्य श्यामला से
शत-सहस्र अंकुर फूटेंगे
गंगा, पद्मा, मेघना के गर्भ से
अगणित मुजीब जन्मेंगे ।
उगती किरण सा जीवन
सारे आकाश को
क्षितिज के अनथक विस्तार को
अपनी बाहों में समेट लेगा,
नया सबेरा—
बन्द द्वारों में थकी
अंध मोडों पर थमी
बोझल जिन्दगी को
शबनमी होठों से चूम
हंसेगा, मुस्कराएगा, गाएगा
और—
धरती पर जमा शहादत का लाल खून
सुहागिन का सिन्दूर बन दमदमाएगा ।

अन्तर का आक्रोश

एक मास बीत गया
और एक मास,
एक वर्ष
एक शताब्दी
संघर्ष—चिर संघर्ष,
भला—
शहादत का मौत से समझौता कैसा ?
उत्पीड़न
घुटन
अंधेरा
जो दशाब्दियों से
मन की गहराइयों में समाता जा रहा है
रिस-रिस कर भरता जा रहा है,
धरती का कोमल कठोर गर्भ
और कब तक
छिपाएगा, बहलाएगा
उस लावा को
धधकते ज्वालामुखी को।
अपमानित शोषण
अस्मत का बेनक़ाब नीलाम
मजहब, जाति, भाषा का
घिनौना, अनचाहा विष
और मेरी मासूम शिराओं में उतारा—
यह सब;

गलियों, सड़कों पर बिछी
सागर पर तैरती
बेसहारा लाशों का सहेजा
विधवा झोंपड़ी का बहाया
निर्दोष रक्त—
शहादत का रक्त;
पास ही चीखती, चिल्लाती
भीगी, अबोध करुणा,
प्रगाढ़ नींद में अलस
मौन इतिहास,
निर्विकार जग।
पसलियों में उभरता दर्द
कहीं गहरे उतर गया है
अन्तर का आक्रोश—
क्रान्ति का जयघोष
'जय बांगला देश'
सात समुद्र पार
लहरों पर
हवाओं पर तैर गया है।

कैन्वस

उगते सूर्य की रक्तिम,
स्वर्णिम किरणों से
एक कैन्वस बुना था
विविध रंगों से दृश्यावलियों को उतारा था—
दो पक्षी, एक घोंसला
एक पेड़
और एक उमंग......।
एक दिन—
मुँह अंधेरे
कैन्वस कन्धे पर लटकाए
चल पड़ी थी एक भीड़,
सुबह
हर छोटी-बड़ी दीवार पर
चिपका आई थी— कुछ शब्द, कुछ नारे
कुछ पूरे, कुछ अधूरे।
गुजरती हुई भीड
कुछ आगे चलकर खोगई
छोड़ गई पीछे
विकृत से पदचिह्न
कुछ चर्चाएँ
काफी हाउस की—खाली वक्त की......।
दिन यूँ ही चढ़ते, ढलते रहे
खुले में पड़ा कैन्वस
घुलता रहा, धुलता रहा

नारों की नालियों में बहता रहा···
और अंधे मोड पर खड़ा
अभागा चित्रकार
नई किरण की प्रतीक्षा में
बूढ़ा हो गया।

आज, एक अरसे बाद
फिर इधर से गुजरा हूँ
धुंधियाते साये में पड़ा है
वही कैन्वस
वही नारे
पर रंग जैसे विद्रोही हो गए हैं
कथावस्तु भंग
और दर्शकों ने मुखौटे लगा लिए हैं,
खून है—कहीं सफेद, कहीं काला,
खाली बन्दूकें नपुंसकों में बँट गई हैं
रेतीले कारतूस छिपा दिए हैं कहीं
घोंसले पर आ बैठा है बाज
बन्द कमरों में उभरते हैं कहकहे
पायल, काकटेल, बहक······।
बन्द आँखें
निर्विकार भाव से गुजर रहे हैं लोग
तड़प रही है मैना
रो रही है मेघना-पद्मा
डूबती संध्या में सब कुछ उनींदा
बेबस सा·········
बूढ़े चित्रकार में अभी दो साँस बाकी हैं।

*

फौजी तानाशाह के नाम एक पाती

वीरान एकान्त में
जबकि मेरे चारों ओर
दुधमुँहे बच्चों
जवान और बूढ़ों की
निष्पन्द लाशें
गहन शून्य में आँखें पथराए पड़ी हैं
मुझे लग रहा है—
मानों ये आँख
बार-बार मेरे व्रण को कुरेद रही हैं
मेरी चेतना के अनकहे दर्द को
अनस्तित्व के हाथों सौंप रही हैं
मैं तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूँ—
ओ मेरे तानाशाह !
लेकिन—मेर पत्र का
यह अर्थ मत लेना कि
मेरे अस्तित्व-बोध को
जंग लग गया है
या मेरी गर्म शिराओं मे
काले धुँए सा जहर
कुंडली मार कर जम गया है
या स्वीकार कर लिया है वह सब
जिसे नकारने का हक
छीनना चाहा था तुमने……।
मैं आज भी उतना ही जीवन्त हूँ

और सुबह की किरण सा बढ़ूँगा भी,
लेकिन—
अन्तिम मोड़ तक पहुँचने से पहले
मैं तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूँ……
ओ तानाशाह !
जिन्दगी और मौत की आँखमिचौनी में
कब, कौन, किसको पकड़ लेगा
न तुम जानते हो
और न मैं,
पर—जिन्दगी
मौत को जितने पल
जितनी सांस बांटती है
मौत उसका सहस्रांश भी नहीं बांटती…… ।
यह जो मेरे पास
निर्बोध शिशु पड़ा है
सूख गया है
जिसके मुँह पर लगा माँ का दूध
काला पड़ गया है
भौंकी हुई संगीत का लाल रक्त,
क्या तुम्हारे नन्हे मुन्ने अहमद सा नहीं है ?
याद नहीं है तुम्हें ?
जब वह तुम्हारे कन्धों पर चढ़कर
दूर, शहर के स्वप्न संजोता था
अपनी तोतली बोली से
घर-आंगन का हर पल
मुखरित करता था,
मासूस हसरत को सहेजते
तुम थकते न थे,
क्या उसी मृगछौने को
तुमने संगीन पर चढ़ाया है ?
भोली आँखों में

पथरीला त्रास
सूना भटकाव संजोया है ?
मेरे इस ग्रोर—
नग्न अस्मत को धूल से ढाँपे
भग्न वक्ष,
लाज में सिमटी
हर देखने वाले से बेखबर हो सोई है,
तुम्हारी नाजिमा नहीं है ?
हर साँस के साथ
तुम्हारी सुख कामना करती
साथ-साथ पली पक्षिणी सी;
जिसे कल तुम
भीगी ग्राँखों से
डोली में बिठा ग्राए थे,
ग्रभी कौन सा सुख देखा था इसने ?
ग्रौर मेरे उस ग्रोर
वह वृद्धा···माँ ···!
हाँ, तुम्हारी माँ ही तो है वह
जिसकी नम ग्राँखों में
ग्राज भी तुम्हारे लौट ग्राने का इन्तजार है
दुधियाते स्तन
लावारिस से फैले हाथ
तुम्हें ग्राँचल में
समेट लेने को ग्रातुर हैं···।
क्या भूल गए ग्रपनी फातिमा को ?
जिसके शबाब में
चांदनी मैली लगती थी,
जिसके होठों के मधुकलश
पीकर भी तुम चिर प्यासे थे
जिसकी ग्राँखों में तुमने
न जाने कितने मृग, मीन, खंजन

संजो दिए थे,
जिसकी कोख में तिलतिल
तुम्हारा रूप पल रहा था,
टूटी तस्वीर सी
आज वह यहाँ सोई है
अनजन्मे शिशु का
भार वहन करती—निरीह सी निश्चल······।
क्या यह माँ, अहमद, फरीदा, नाजिमा, फातिमा
तुम्हारे नहीं थे?
तुम्हारे रक्त से, अश्रु से,
हास्य से, खिलवाड से
पलने वाले ये
तुम्हारे नहीं थे······?
बोलो, ओ मेरे तानाशाह !
बहुत बेचैन हो गया हूँ
यह सब लिखते हुए;
इनको, सबको मैंने बुझते हुए देखा है
एक मर्मान्तक पीडा को
बहुत करीब से महसूस किया है
मौत के भयावह शिकंजे में छटपटाते
सब कुछ देखा है मैंने ··।
काश ! तुम मेरी आँखों से देख पाते
ओ मेरे तानाशाह !
मैं समझता हूँ
हैवानियत के बावजूद
तुम इन्सान हो,
एक बार, इन्सानियत की नजरों से
खून की विभीषिका को देख तो लेते
और यकीनन
ये आँखें, दिलोदिमाग
कुछ गलत नहीं कहते ।

पद्मा के तट पर एक मैना

बहुत दिनों से मेरी मैना
पद्मा के किनारे रो रही थी
जालिम बहेलिये ने
काट दिए थे मासूस पंख
और अंधी डोर से
बांधकर पैर
कर दिया था लुंज, बेकार, निराश्रित।
मैना तड़पती, चीखती रही
बूढ़ा आकाश बहरा
हवा गूँगी और
मौसम बेईमान हो गया—
खूँखार इरादों से समझौता कर
मुँह पर ताले डाल लिए
अथवा—
ऊँची कीमतों पर बिक गए
चुपचाप, खामोश……।
कमजोर लाशों की नंगी आवाजें
अंधेरे में भटकती, टकराती
थक गई
जिन्दा लाशें बुनती रहीं कफन
नीले शरीर का पिटा खून
अस्मत को दोनों हाथों से ढांपे

मेरे द्वार पर आकर बिखर गई,
चेतना के शत-सहस्र पंखों ने
आकाश की ऊँचाइयों तक
उठा दिया मुझे,
नीला अंधेरा घुलने लगा
धुंधियाता अजदाह सिमटता गया
और मुखौटे बेनक़ाब होते गए........।
आज फिर—
गंगा, मेघना, पद्मा के तट पर
आम्रमंजरी महकने लगी है
रवि-नजरुल की मैना
जन-सौहार्द्र की मैना
फिर गाने लगी है
चहकने, झूमने लगी है।

चिर राज

प्यार से जब जब शलभ ने
राग ने जब जब व्यथा को
हृदय की चिर साधना लेकर पुकारा
साँस दीपक की
तुड़ा सब बन्धनों को जी उठी,
भावना की कसमसाई वेदना
रागिनी बन दर्द उर का बह चली।
जब कलि का सुप्त यौवन
मलय की मादक सुरा पी छलछलाया
पर शून्य में, एकान्त में पाकर न पंथी
लाजनत आँखें जरा भी डबडबाई
श्रान्त अलि के
भ्रान्त जीवन की धरा पर
प्यार की अंगडाई रुकने में न आई।
बन्धु ! जीवन में निराशा दुःख कैसा ?
रात ही में प्रात का इतिहास है
वेदना, नैराश्य में
चिर सत्य का, चिर सौख्य का
अमरत्व का आवास है।
ओ पथिक ! सब बन्धनों को तोड़ चल
सब नाते रिश्ते छोड़ चल
सामने वह दूर तक
धुंधली पड़ी पगडंडियों से पूछले
जिसमें युग मंजिल
बिहँसती सी छिपाए
लक्ष्य का चिर राज है।

सब का दुख : सब का सुख

रात के पिछले प्रहर में
कौन जाने मन्द स्वर में बोलता है
मस्त वासन्ती हवा की अंजुलि में
गरल का मादक मरण सा घोलता है।
मत पास आओ ओ निशा के तरफदारो !
प्रात: की रंगीनियाँ मुझको बुलातीं;
शाम को दे प्यार की मीठी विदाई
आस की चौखट युगों से चिर पिपासी।
प्यार से, शम से मुझे तो वास्ता है
विश्व का कल्याण मेरा रास्ता है।
दूर ले जाओ समूची विवशता को
रुदन को, चीत्कार को, क्रन्दन गिरा को।
'कौन ? दरवाजे पै दस्तक !
कुछ घिरा सा, यह घुटन कैसी अजानी !
कौन हो ? बोलो, गिरा की गांठ खोलो,
स्नेह का संसार तो सबके लिए है
भावना की बाँसुरी जो गीत गाती
दर्द हर, अपना बनाने के लिए है।
तू······? मनुजता !
त्रस्त सी, भयभीत, शंकित;
घाव ये कैसे अजाने ?'
'तात ! मैं विह्वल हुई हूँ,
प्यार के, विश्वास के सपने दिखाकर
बन्दीगृह की क्रूरता से तोड़ डाला,

श्रम पहरुश्रा
मांग का सिन्दूर हाय पोंछ डाला ।
ाज मैं पागल हुई हूँ
ान्ति की वीणा कहाँ है ? पुत्र दे दो,
रे चिर शृंगार की रोली, कुसुम की सहजता में
ाल का वैविध्य,
त्र सा रौद्र भर दो ।"
र, माँ ठहरो, तनिक ठहरो
े मृत नहीं हैं
ा सा टेर लूँ इनकी जवानी
। धरा के वीर का बेजोड़ पानी ।
वीर मेरे जाग, मजिल सामने है
सौख्य के श्राधार बेबस, श्रनमने हैं ।
उठ, विपद् के बाजुश्रों को तोड़कर नीचे झुका दे
उठ, तूफाँ की दिशा को मोड़
झंझा की रवानी को मिटा दे ।
मानता हूँ—
शम श्रमर है
नर श्रमर है,
प्रेम के संसार का हर भाव चिर है ।
पर श्राज कैसी शान्ति, कैसी श्रहिंसा ?
जब दानवी बाजार में
बेबस मनुजता बिलखती हो,
(पंच) शील की दुल्हन जो डोले के प्रथम ही
चूड़ियों को तोड़कर बिखरा चुकी हो,
प्यार की सौगन्ध सिसकी भरी चुकी हो ।
उठ कवि, नव गीत की धारा बदल दे
राग में भैरव स्वरों सी क्रान्ति भर दे ।
राम के इस देश में रावण मरेगा,
कृष्ण का सन्देश ले श्रर्जुन जगेगा ।

देश की माटी भी करवट ले चुकी है,
हिम की परतों में भी ज्वाला धधकती है।
छोड़ दो मतभेद के, वैभिन्य के दुर्गम पथों को
साम्य की अमराइयों में झूम लें हम
एकता की प्यास प्राणों में जगाकर
राष्ट्र की जय एक स्वर में बोल दें हम।
फिर न मानवता कभी सिसके धरा पर
फिर न दानवता कभी उभरे यहाँ पर।
आओ, शिव सी अमरता ऐसी जगा दें
सबके दुख को
सबके सुख को,
एक हो सहते चलें हम।